ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

148

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

# सबलोग

जून 2026 ● ₹ 50

## संघ, सरकार और साम्प्रदायिकता

- वैश्विक न्याय की विफल संरचना
- ऑर्बान की हार का राजनीतिक आशय
- युद्ध और स्त्री संवेदना का सिनेमाई पाठ

# सबलोग-148

वर्ष 17, अंक 6, जून 2026

ISSN 2277-5897 SABLOG

PEER REVIEWED JOURNAL

www.sablog.in



**सम्पादक**

किशन कालजयी

**संयुक्त सम्पादक**

प्रकाश देवकुलिश

राजन अग्रवाल

**उप-सम्पादक**

गुलशन चौधरी

**समीक्षा समिति**

**(Peer Review Committee)**

आनन्द कुमार

रत्नेश्वर मिश्र

मणीन्द्र नाथ ठाकुर

मंजु रानी सिंह

सफदर इमाम कादरी

प्रमोद मीणा

राजेन्द्र रवि

मधुरेश

महादेव टोप्पो

विजय कुमार

आशा

सन्तोष कुमार शुक्ल

अखलाक 'आहन'

अभय सागर मिंज



**सम्पादकीय सम्पर्क**

बी-3/44, तीसरा तल, सेक्टर-16,

रोहिणी, दिल्ली-110089

+918340436365

sablogmonthly@gmail.com



**सदस्यता शुल्क**

एक अंक : 50 रुपये

वार्षिक : 1100 रुपये रजिस्टर्ड डाक से

**सबलोग**

खाता संख्या-49480200000045

बैंक ऑफ बड़ौदा,

शाखा-बादली, दिल्ली

IFSC-BARB0TRDBAD

(Fifth Character is Zero)

स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिण्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।



पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

**पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।**

**पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।**


**संवेद फाउण्डेशन का मासिक प्रकाशन**

## संघ, सरकार और साम्प्रदायिकता


**मुनादी** / संघ की वैचारिकी और भारतीय गणराज्य : **किशन कालजयी** 3

हिन्दुत्व और वैचारिक वर्चस्व की राजनीति : **संजय कुंदन** 5

संघ का यूरोपीय फासीवादियों से प्रेम : **ए.जी. नूरानी** 8

हिन्दुत्व, फासीवाद और राष्ट्र की अवधारणा : **शम्सुल इस्लाम** 11

संघ और वामपन्थ के सौ साल : **अच्युतानन्द किशोर नवीन** 13

संगठन, सत्ता और वैचारिक अन्तर्विरोध : **शंकर शरण** 16

गाँधी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ : **सुजाता चौधरी** 18

वनवासी कल्याण आश्रम की रणनीति : **कमल नयन चौबे** 19

सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का द्वन्द्व : **रणधीर गौतम** 21

महात्मा गाँधी की हत्या और संघ : **मार्टिना चक्रबर्ती** 23

शिक्षा, इतिहास और हिन्दुत्व की वैचारिकी : **शान कश्यप** 25


## सृजनलोक


ग्यारह कविताएँ : **गौरव भारती,** टिप्पणी : **कुमारी उर्वशी,** रेखांकन : **पंकज दीक्षित** 27


## देश


झारखण्ड / अनुपयोगी जमीन वापसी का शंखनाद : **सुधीर पाल** 29

हरियाणा / ग्रीन प्लान की हकीकत : **अजय सिंह** 31


## स्तम्भ


चतुर्दिक / हेडगेवार से मोहन भागवत तक : **रविभूषण** 33

तीसरी घण्टी / एकल नाटक का सामजिक यथार्थ : **राजेश कुमार** 37

यत्र-तत्र / स्वातन्त्र्योत्तर और भूमण्डलोत्तर : **जय प्रकाश** 40

देशान्तर / वैश्विक न्याय की विफल संरचना : **धीरंजन मालवे** 43

परती परिकथा / फासिज्म का आरोप और भारतीय लोकतन्त्र : **हितेन्द्र पटेल** 46


## विविध


शहरनामा / ज्ञान के स्रोत हैं पुस्तकालय : **राजेन्द्र रवि** 49

जन गण मन / ऑर्बान की हार का राजनीतिक आशय : **सर्वेश कुमार मौर्य** 52

सिनेमा / युद्ध और स्त्री-संवेदना का सिनेमाई पाठ : **रक्षा गीता** 55

किताब / आत्मविश्वस्त विचार का अष्टांगिक मार्ग : **ब्रजरतन जोशी** 57

लिये लुकाठी हाथ / कलमकारों का नीलामघर हो तो : **प्रेम जनमेजय** 58

रंगसाज / भीड़ में मनुष्य की खोजः रघु राय का दृश्य संसार : **शेखर** 59



**आवरण : शशिकान्त सिंह**

**अक्षर संयोजनः आशीष कुमार पाठक**


**अगला अंक : मार्क्स, गाँधी और प्रेमचन्द**

# संघ की वैचारिकी और भारतीय गणराज्य

भारतीय राजनीति में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रभाव आज जितना व्यापक और निर्णायक दिखाई देता है, उतना शायद पहले कभी नहीं था। एक समय सांस्कृतिक संगठन के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करने वाला संघ अब राजनीति, शिक्षा, मीडिया, इतिहास-लेखन, सामाजिक संगठनों और राज्य-सत्ता की संरचनाओं तक गहरी उपस्थिति दर्ज करा चुका है। उसके समर्थक इसे राष्ट्रबोध, अनुशासन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की शक्ति मानते हैं, जबकि आलोचक भारतीय लोकतन्त्र की बहुलतावादी आत्मा के लिए चुनौती के रूप में देखते हैं। प्रश्न केवल किसी एक संगठन के विस्तार का नहीं, बल्कि उस वैचारिक दिशा का है जिसमें भारत का लोकतन्त्र आगे बढ़ रहा है। यह बहस इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसके केन्द्र में संविधान, नागरिकता, सांस्कृतिक पहचान और भारत की लोकतान्त्रिक कल्पना का भविष्य उपस्थित है।

संघ पर बहस कोई नयी बात नहीं है। लगभग एक शताब्दी पुराने इस संगठन ने अपने आरम्भ से ही भारतीय समाज, राजनीति और संस्कृति को प्रभावित करने की कोशिश की है। लेकिन पिछले एक दशक में उसका प्रभाव जिस तीव्रता से बढ़ा है, उसने इस बहस को और अधिक गम्भीर बना दिया है। आज संघ केवल एक वैचारिक-सांस्कृतिक संगठन नहीं रह गया है; वह सत्ता, प्रशासन, शिक्षा, विश्वविद्यालयों, मीडिया, न्यायिक विमर्श, कॉरपोरेट जगत और प्रवासी भारतीय समुदायों तक फैले व्यापक नेटवर्क के रूप में उपस्थित है।

संघ स्वयं को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का प्रतिनिधि संगठन कहता है। उसके समर्थकों के लिए वह अनुशासन, सेवा और राष्ट्रभक्ति का प्रतीक है। लेकिन आलोचक लगातार यह प्रश्न उठाते रहे हैं कि क्या संघ का 'राष्ट्र' भारतीय संविधान की बहुलतावादी अवधारणा से मेल खाता है? क्या उसकी राजनीति लोकतन्त्र को अधिक समावेशी बनाती है, या उसे बहुसंख्यक वर्चस्व की दिशा में ले जाती है? ये प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो गये हैं क्योंकि संघ अब केवल विचारधारा के स्तर पर नहीं, बल्कि राज्य-सत्ता की संरचनाओं के भीतर भी निर्णायक प्रभाव रखता दिखाई देता है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का इतिहास केवल एक संगठन का इतिहास नहीं, बल्कि विचार, अनुशासन और सांस्कृतिक हस्तक्षेप की एक दीर्घ प्रक्रिया का इतिहास भी है। 1925 में केशव बलिराम हेडगेवार ने ऐसे समय में इसकी स्थापना की, जब स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ-साथ साम्प्रदायिक तनाव भी बढ़ रहे थे। हेडगेवार राजनीतिक आन्दोलनों की तात्कालिक उत्तेजना की बजाय दीर्घकालीन संगठन निर्माण में विश्वास करते थे। शाखा, अनुशासन और चरित्र-निर्माण संघ की बुनियादी संरचना बने।

माधव सदाशिव गोलवलकर के दौर में संघ को वैचारिक और संगठनात्मक विस्तार मिला। उन्होंने 'हिन्दू राष्ट्र' और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को अधिक स्पष्ट रूप में सामने रखा। आलोचक उनके भीतर सांस्कृतिक एकरूपता का आग्रह देखते हैं, जबकि समर्थक उन्हें संघ का वास्तविक वैचारिक निर्माता मानते हैं। बालासाहेब देवरस के समय संघ ने सामाजिक और राजनीतिक हस्तक्षेप को अधिक व्यवस्थित रूप दिया। आपातकाल विरोधी आन्दोलन ने उसकी राजनीतिक उपस्थिति को मजबूत किया। बाद के वर्षों में रज्जू भैया, के. एस. सुदर्शन और मोहन भागवत ने अलग-अलग शैली में संगठन को विस्तार दिया—कहीं संवाद, कहीं वैचारिक आग्रह और कहीं सामाजिक स्वीकार्यता के माध्यम से।

मोहन भागवत के दौर में संघ अपने सबसे व्यापक प्रभाव के साथ दिखाई देता है। उनकी सार्वजनिक भाषा अपेक्षाकृत सन्तुलित और संवादधर्मी मानी जाती है, लेकिन इसी दौर में संघ परिवार की राजनीतिक शक्ति भी अभूतपूर्व रूप से बढ़ी है। यही कारण है कि आज संघ को केवल एक सांस्कृतिक संगठन मानना कठिन होता जा रहा है।

संघ के विस्तार की सबसे बड़ी विशेषता उसकी दीर्घकालिक रणनीति है। वह चुनावी राजनीति की तात्कालिकता से आगे जाकर समाज के भीतर स्थायी वैचारिक आधार तैयार करता है। शाखाओं, विद्यालयों, छात्र संगठनों, श्रमिक संगठनों, महिला संगठनों, सेवा-कार्यों, प्रकाशनों और डिजिटल प्रचार नेटवर्क के माध्यम से उसने एक समानान्तर सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना विकसित की है। यह विस्तार केवल संगठन का विस्तार नहीं, बल्कि समाज की चेतना पर प्रभाव स्थापित करने की दीर्घकालिक परियोजना है।

एक समय संघ को मुख्यतः उच्च जातीय, शहरी और मध्यवर्गीय संगठन माना जाता था। लेकिन पिछले वर्षों में उसने दलितों, पिछड़ों और आदिवासी समुदायों के बीच भी अपनी उपस्थिति बढ़ाने की गम्भीर कोशिश की है। 'समरसता' और 'सांस्कृतिक एकता' जैसे नारों के माध्यम से वह सामाजिक न्याय की राजनीति के समानान्तर एक वैकल्पिक विमर्श खड़ा करना चाहता है। वह जातिगत असमानता की ऐतिहासिक आलोचना की बजाय सांस्कृतिक हिन्दू एकता पर अधिक बल देता है। इसलिए संघ का विस्तार केवल धार्मिक या सांस्कृतिक घटना नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतिनिधित्व और राजनीतिक वर्चस्व की नयी रणनीति भी है।

संघ की राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष इतिहास और स्मृति पर प्रभाव स्थापित करने का प्रयास है। पाठ्यपुस्तकों में बदलाव, इतिहास लेखन की नयी परियोजनाएँ, प्राचीन भारत के गौरव का आक्रामक पुनर्पाठ और मुगल काल की पुनर्व्याख्या—ये सब उसी वैचारिक परियोजना का हिस्सा दिखाई देते हैं। इतिहास को बहुल अनुभवों और संघर्षों की जगह गौरव और आहत अस्मिता की एकरेखीय कथा में बदल देना लोकतान्त्रिक समाज के लिए खतरनाक हो सकता है। क्योंकि जब इतिहास आलोचनात्मक विवेक की जगह भावनात्मक उन्माद पैदा करने लगे, तब लोकतान्त्रिक संवाद कमजोर होने लगता है।

संघ के प्रभाव का दूसरा महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मीडिया और संचार का है। डिजिटल माध्यमों के विस्तार ने संघ परिवार को अभूतपूर्व प्रचार-क्षमता दी है। सोशल मीडिया के जरिए वैचारिक सामग्री का तीव्र प्रसार, विरोधियों के खिलाफ संगठित अभियान और राष्ट्रवाद की भावनात्मक भाषा का आक्रामक उपयोग हमारे सार्वजनिक जीवन को गहरे स्तर पर प्रभावित कर रहा है। सूचना और प्रचार के बीच की रेखा लगातार धुँधली होती जा रही है। ऐसे माहौल में असहमति को राष्ट्र-विरोध या सांस्कृतिक विश्वासघात के रूप में प्रस्तुत करना आसान हो जाता है। लोकतन्त्र में विचारों का संघर्ष स्वाभाविक है, लेकिन जब असहमति के लिए सार्वजनिक जगह संकुचित होने लगे, तब चिन्ता पैदा होना भी स्वाभाविक है।

संघ का प्रभाव अब वैश्विक स्तर पर भी दिखाई देता है। प्रवासी भारतीय समुदायों के बीच उसके अनेक संगठन सक्रिय हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रमों, मन्दिरों, शैक्षिक गतिविधियों और चैरिटी संस्थाओं के माध्यम से उसने एक व्यापक नेटवर्क बनाया है। यह नेटवर्क केवल सांस्कृतिक पहचान तक सीमित नहीं, बल्कि भारतीय राजनीति और अन्तरराष्ट्रीय विमर्शों को भी प्रभावित करने की कोशिश करता है। पश्चिमी देशों में दक्षिणपन्थी राष्ट्रवाद के उभार के साथ संघ की वैचारिक समानताओं पर भी चर्चा हुई है—जैसे सांस्कृतिक असुरक्षा

की राजनीति, बहुसंख्यक पहचान का उभार और इतिहास के आहत गौरव का राजनीतिक इस्तेमाल। इन्हीं कारणों से अमेरिका में कुछ संगठनों और राजनीतिक समूहों द्वारा संघ पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग भी उठ चुकी है। भारत में स्वयं संघ पर कई बार प्रतिबन्ध लगाए गये, लेकिन लगभग हर बार वह अधिक संगठित और विस्तृत रूप में उभरा है।

हालाँकि संघ का प्रभाव केवल प्रचार या वैचारिक अनुशासन से नहीं बढ़ा। भारतीय लोकतन्त्र की कमजोरियाँ, विपक्ष की विफलताएँ, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, सामाजिक न्याय की राजनीति की सीमाएँ और राजनीतिक दलों की वैचारिक शून्यता ने भी उसके विस्तार के लिए जमीन तैयार की। जब लोकतान्त्रिक संस्थाएँ जनता का भरोसा खोती हैं, तब वैचारिक रूप से संगठित शक्तियाँ तेजी से जगह बनाती हैं। इसलिए संघ की आलोचना केवल नैतिक आक्रोश से नहीं की जा सकती; उसके सामाजिक आधार और राजनीतिक सफलता को समझना भी आवश्यक है।

संघ, जनसंघ और भाजपा का सम्बन्ध भारतीय राजनीति की सबसे महत्त्वपूर्ण साझेदारियों में से एक रहा है। 1951 में श्यामा प्रसाद मुखर्जी द्वारा स्थापित जनसंघ संघ की राजनीतिक अभिव्यक्ति बना। संघ के प्रचारक राजनीति में भेजे गये और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को राजनीतिक आधार मिला। जनता पार्टी के दौर में 'द्वैध सदस्यता' विवाद ने यह स्पष्ट कर दिया कि संघ केवल सांस्कृतिक संस्था नहीं, बल्कि एक प्रभावशाली वैचारिक शक्ति-केन्द्र भी है।

1980 में भाजपा की स्थापना के बाद यह सम्बन्ध और गहरा हुआ। अटल बिहारी वाजपेयी और लालकृष्ण आडवाणी के दौर में संघ और भाजपा के बीच एक प्रकार का सन्तुलन दिखाई देता था। कई मुद्दों पर मतभेद भी सामने आये, लेकिन दीर्घकालिक वैचारिक परियोजना साझा रही। नरेन्द्र मोदी के उदय के बाद यह सम्बन्ध एक नये चरण में पहुँचा। मोदी स्वयं संघ के पूर्णकालिक प्रचारक रहे हैं, इसलिए उनके नेतृत्व में भाजपा और संघ के बीच वैचारिक दूरी लगभग समाप्त होती दिखाई दी।

फिर भी यह कहना पूरी तरह सही नहीं होगा कि दोनों के बीच सब कुछ निर्विवाद है। संघ एक दीर्घकालिक सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन है, जबकि भाजपा चुनावी राजनीति की व्यावहारिकताओं से संचालित दल। संघ कैडर-आधारित सामूहिकता पर बल देता है, जबकि मोदी युग में भाजपा अत्यधिक केन्द्रीकृत और नेतृत्व-केन्द्रित हुई है। इसी दौर में पार्टी के कई पुराने और प्रभावशाली नेताओं का महत्त्व सीमित होता गया। दूसरी ओर भाजपा ने अपने पारम्परिक संगठनात्मक ढाँचे से बाहर जाकर अन्य दलों के नेताओं को भी न केवल शामिल किया, बल्कि कई राज्यों में नेतृत्व की जिम्मेदारियाँ भी सौंपीं। इससे भाजपा का चुनावी विस्तार तो बढ़ा, लेकिन संघ की पारम्परिक कैडर-राजनीति और भाजपा की नयी सत्ता-केन्द्रित राजनीति के बीच एक अन्तर्निहित तनाव भी उभरा। आर्थिक नीतियों, कॉरपोरेट प्रभाव, नौकरशाही की बढ़ती भूमिका और पुराने संघनिष्ठ नेताओं के सीमित होते प्रभाव को लेकर समय-समय पर असहजता की चर्चाएँ सामने आती रही हैं।

इसके बावजूद संघ और भाजपा का रिश्ता 'नियन्त्रण' से अधिक 'परस्पर निर्भरता' का रिश्ता है। संघ भाजपा को वैचारिक आधार, कार्यकर्ता और सामाजिक विस्तार देता है; भाजपा संघ को राजनीतिक प्रभाव और राज्य-सत्ता तक पहुँच प्रदान करती है। दोनों के बीच रणनीतिक अन्तर हो सकते हैं, लेकिन व्यापक वैचारिक सहमति बनी रहती है।

संघ का समर्थक वर्ग तर्क देता है कि उसने भारतीय समाज में संगठन, अनुशासन और राष्ट्रबोध को मजबूत किया है। सेवा-कार्य और आपदा राहत में उसकी सक्रियता को भी रेखांकित किया जाता है। इन बातों को पूरी तरह नकारना वास्तविकता से आँख मूँदना होगा। लेकिन मूल प्रश्न यह है कि क्या यह मॉडल लोकतान्त्रिक समानता और संवैधानिक नागरिकता को मजबूत करता है, या नागरिक की पहचान को धर्म-आधारित सांस्कृतिक समुदाय में सीमित कर देता है? भारतीय संविधान नागरिकता को धर्म से ऊपर रखता है, जबकि संघ की राजनीति अक्सर सांस्कृतिक बहुसंख्यक पहचान को राष्ट्र की मूल पहचान में बदल देती है। यही बुनियादी तनाव है।

भारतीय लोकतन्त्र की सबसे बड़ी शक्ति उसकी बहुलता और सह-अस्तित्व की परम्परा रही है। भाषा, धर्म, जाति, संस्कृति और क्षेत्रीय अस्मिताओं से बने इस देश को किसी एक सांस्कृतिक साँचे में नहीं ढाला जाना चाहिए और नहीं ढाला जा सकता। लेकिन संघ की परियोजना एक ऐसे 'एकीकृत' राष्ट्र की कल्पना करती है जिसमें विविधताओं को अन्ततः एक बहुसंख्यक सांस्कृतिक ढाँचे के भीतर समाहित होना है। यह दृष्टि लोकतन्त्र को केवल चुनावी बहुमत तक सीमित कर देती है, जबकि लोकतन्त्र का अर्थ असहमति, विविधता और समान अधिकारों की रक्षा भी है।

आज जरूरत सिर्फ भावुकता या उत्तेजना में संघ-विरोध की नहीं है, बल्कि एक वैकल्पिक लोकतान्त्रिक-सांस्कृतिक परियोजना की है जो सामाजिक न्याय, आर्थिक समानता और संवैधानिक मूल्यों को जनता के जीवन से जोड़ सके। यदि लोकतान्त्रिक राजनीति केवल चुनावी समीकरणों तक सीमित रहेगी, तो संघ जैसी संगठित वैचारिक शक्तियाँ लगातार प्रभाव बढ़ाती रहेंगी। विश्वविद्यालयों, साहित्य, पत्रकारिता, सिनेमा और जनान्दोलनों को भी इस चुनौती का गम्भीरता से सामना करना होगा।

प्रेमचन्द ने लिखा था कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है। आज यह बात और अधिक प्रासंगिक लगती है। क्योंकि संघ का विस्तार केवल राजनीतिक विस्तार नहीं, बल्कि कल्पना, स्मृति और सांस्कृतिक चेतना पर प्रभाव का विस्तार भी है। ऐसे समय में लेखकों, कलाकारों, शिक्षकों और बुद्धिजीवियों की जिम्मेदारी बढ़ जाती है कि वे लोकतन्त्र को केवल सत्ता-परिवर्तन की प्रक्रिया न मानें, बल्कि मनुष्य की स्वतन्त्रता, बराबरी और बहुलता की रक्षा के रूप में देखें। महात्मा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में चेतावनी दी थी कि कोई भी राष्ट्र केवल सत्ता और बहुमत से महान नहीं बनता; उसकी आत्मा इस बात से बनती है कि वह अपने सबसे कमजोर और सबसे भिन्न नागरिक के साथ कैसा व्यवहार करता है। जवाहरलाल नेहरू ने भारत को 'विविधताओं का महासंगम' कहा था, जहाँ अनेक भाषाएँ, संस्कृतियाँ, स्मृतियाँ और विश्वास एक साथ सह-अस्तित्व में रहते हैं। भारतीय सभ्यता की शक्ति उसकी एकरूपता में नहीं, बल्कि भिन्नताओं को साथ लेकर चलने की क्षमता में रही है। महाभारत भी यही स्मरण कराता है कि जब सत्ता धर्म से बड़ी हो जाती है, तब अन्ततः समाज संघर्ष और विभाजन की ओर बढ़ता है।

संघ पर बहस इसलिए जरूरी है क्योंकि यह केवल एक संगठन पर बहस नहीं, बल्कि भारत के भविष्य पर बहस है। आने वाले वर्षों में भारतीय राजनीति और समाज की दिशा इसी प्रश्न से तय होगी कि भारत बहुसंख्यक पहचान पर आधारित राष्ट्र की ओर बढ़ेगा या संविधान की उस लोकतान्त्रिक कल्पना को बचाए रखेगा जिसमें हर नागरिक बराबर है–चाहे उसका धर्म, भाषा, जाति या संस्कृति कुछ भी हो।

भारतीय लोकतन्त्र की वास्तविक परीक्षा चुनावी जीत या पराजय से नहीं, बल्कि इस बात से होगी कि क्या वह असहमति के लिए जगह बचाए रख पाता है; क्या वह नागरिक को उसकी धार्मिक पहचान से ऊपर एक समान अधिकार-सम्पन्न मनुष्य के रूप में देख पाता है; और क्या वह सत्ता की शक्ति से अधिक संविधान की नैतिकता पर भरोसा बनाए रखता है। यदि भारत अपनी बहुलतावादी आत्मा और संवैधानिक चेतना को बचाए रखता है, तभी वह बहुसंख्यक राष्ट्रवाद के दबावों के बीच लोकतान्त्रिक गणराज्य के रूप में अपनी पहचान कायम रख सकेगा।

**किशन कालजयी**